एशियाई श्रमण परम्परा : एक विहङ्गम दृष्टि

प्रो० चन्द्रशेखर प्रसाद

एशियाई श्रमण परम्परा का स्रोत भारतीय बौद्ध श्रमण परम्परा है। एशियाई देशों में बौद्ध धर्म के प्रवेश-प्रसार के साथ ही बौद्ध श्रमण परम्परा भी वहाँ स्वीकृत हुई क्योंकि बौद्ध धर्म मूलतः श्रमण धर्म था। वर्तमान में भी इन देशों में बौद्ध धर्म एवं परम्परा पूर्ण ओजसः जीवित है। इन देशों की श्रमण परम्परा के मूल स्रोत एवं भारत में बौद्ध श्रमण परम्परा के स्वरूप को भी हम सरसरी नज़र से देखना चाहेंगे क्योंकि इससे एशियाई श्रमण परम्परा की विशेषताओं को समझने में सहायता मिलेगी।

श्रमण परम्परा का मूल स्रोत :

श्रमण परम्परा के मूल स्रोत के सम्बन्ध में दो प्रमुख विचारधारायें हैं। प्रारम्भ में विद्वानों की यह धारणा थी कि श्रमण धर्म एवं परम्परा हिन्दू अर्थात् प्राचीन वैदिक धर्म एवं परम्परा की ही एक धारा है। इस धारणा के पीछे सुदृढ़ आधार भी था। भगवान् गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर क्षत्रिय कुल के आर्य थे। जिन दो धर्मों का इन्होंने प्रणयन किया उनके अनुयायी भी हिन्दू समाज के ही थे। भगवान् गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर ने हिन्दू धर्म में प्रचलित कुरीतियों का विरोध किया एवं धर्म सुधारक के रूप में अपने मतों का प्रचार किया जो कालान्तर में दो पृथक् धर्म के रूप में उभर आये। भगवान् गौतम बुद्ध को विष्णु का अवतार माना गया। भगवान् महावीर की पूजार्चना हिन्दू लोग भी करते हैं। हिन्दू एवं जैन धर्मावलम्बियों के सामाजिक-धार्मिक जीवन में वैसा कोई विभेद नहीं है जो दो धर्मावलम्बियों के जीवन में देखने को मिलता है। इनका समाज एक है और ये समान जीवन व्यतीत करते हैं।

परन्तु, सिन्धुघाटी के पुरैतिहासिक स्थलों के उत्खनन से प्राप्त पुरातात्विक सामग्रियों से विद्वानों की यह धारणा बदलती जा रही है। सिन्धुघाटी सभ्यता एक अत्यन्त विकसित नगर सभ्यता थी। आर्यों ने इसे विनष्ट कर वैदिक सभ्यता की स्थापना की। उस सिन्धुघाटी सभ्यता का कोई प्रभाव वैदिक सभ्यता पर नहीं पड़ा, ऐसा नहीं हो सकता। इतिहासकारों एवं इस क्षेत्र के अन्य विद्वानों का ध्यान उन धाराओं को खोज निकालने की ओर गया है जो विशुद्ध रूप से आर्येतर हैं और कालान्तर में वैदिक सभ्यता में आत्मसात् कर ली गयी हैं या संश्लेषित रूप में उभरकर आयी हैं। श्रमण परम्परा के सम्बन्ध में भी विद्वानों की यह धारणा दृढ़ होती जा रही है कि इस परंपरा का मूल आर्येतर है। मोहनजोदड़ो के उत्खनन से प्राप्त यति की प्रतिमा (जो शिव का प्राक्रूप है) सिन्धुघाटी सभ्यता में श्रमण प्रवृत्ति की विद्यमानता को प्रमाणित करती है। इसके विपरीत, आर्य सभ्यता का रुझान लौकिकता और सांसारिकता की ओर है। वेद की ऋचाओं में सोमरसपान, देवताओं के हास्यप्रेम आदि की प्रशंसा की गई है। ऋग्वेद के केशीसूक्त में नग्न केशवाले यतियों की छटा पर स्तम्भन का भाव प्रकट किया गया है।

इस धारणा के पक्ष में यह भी तर्क दिया जाने लगा है कि विरोध और सुधार एक परिधि के अन्तर्गत ही सम्भव होते हैं। बौद्ध धर्म और जैन धर्म उस सुषुप्त श्रमण धारा में आते हैं जो भगवान् गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर के व्यक्तित्व के प्रभाव में वैदिक धर्म के समकक्ष आ प्रतिष्ठित हुए। आर्यों ने सिन्धुघाटी सभ्यता के भौतिक रूप को विनष्ट कर दिया, परन्तु श्रमण जैसी मूलप्रवृत्तियाँ सुषुप्तावस्था में विद्यमान रहीं। स्थान और काल के भेद से आर्य-समाज में प्रचलित कर्मकाण्ड, बलिप्रथा, जातिप्रथा आदि की असंगतियों के प्रति असंतोष उत्पन्न हुआ और उनका विरोध भी होने लगा। अपनी समस्याओं का समाधान पाने के आकांक्षी आर्यजन अपने समाज की परिधि के बाहर आ गये। बुद्धत्व की प्राप्ति के पूर्व भगवान् गौतम बुद्ध भी अपनी समस्याओं का समाधान पाने के लिये श्रमण परम्परा में आये। उनके आचार्य एवं सहयोगी श्रमण थे। उन बहिर्गत आर्यजनों का सहयोग पाकर सुषुप्तावस्था में पड़ी श्रमण परम्परा जागृत होने लगी। भगवान् गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर के काल तक परिव्राजक, आजीवक, जटिल आदि अनेक नामों से ज्ञात श्रमणों की काफी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बड़ी संख्या उत्तर भारत में थी। बौद्ध साहित्य में निगण्ठनातपुत्त (भगवान् महावीर) को समाहित कर छः प्रमुख आचार्यों के नाम अनेक स्थानों पर मिलते हैं। उन आचार्यों की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गई थी कि स्वयं मगध सम्राट् अजातशत्रु भी उनसे भेंट करने गये थे। यह स्पृहणीय आदर-सत्कार प्रमाणित करता है कि श्रमण जीवन पद्धति समाज में अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर चुकी थी। संभवतः यही कारण है कि भगवान् गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर को गृहस्थानुयायियों को अलग से संगठित करने की आवश्यकता नहीं हुई। इनके विशिष्टानुयायी श्रमण थे जिन्हें संगठित रखने का प्रयास चलता रहा।

श्रमण का शाब्दिक एवं पारम्परिक अर्थ :

श्रमण शब्द श्रम् धातु में अय् प्रत्यय लगाकर बना है। मोनियर विलियम के कोश में इसका अर्थ 'परिश्रम करना, विशेषकर श्रम-साध्य निम्नकोटि का कार्य करना' है। इस दृष्टि से इसका प्रयोग आत्मपीड़न, तप आदि में संलग्न यति, भिक्षु आदि के लिए हुआ है। आप्टे महाशय के अनुसार मुक्ति की प्राप्ति के लिए ध्यान में संलग्न व्यक्ति श्रमण है। ब्राह्मण लोग बुद्ध को श्रमण शब्द से सम्बोधित करते थे। पालि साहित्य में 'समणो गोतमो' प्रयोग प्रायः मिलता है। पालि साहित्य के अट्ठकथाकारों में अग्रणी आचार्य बुद्धघोस ने समण (श्रमण) का अर्थ 'सामित्त पापत्ता' (पापों का शमन हो जाना) किया है। इस अर्थ को इस रूप में भी व्यक्त किया गया है—'समित्त पापानं समणोति'। जिसके पापों का शमन हो चुका है, वह श्रमण है। जैनसाहित्य के स्थानाङ्गसूत्र में श्रमण की परिभाषा है - 'सममणई तेण सो समणो'। अभिधान राजेन्द्र में सममणई की व्याख्या इस प्रकार है—'समिति समतया शत्रुमित्रादिषु अणति प्रवर्तते इति समण सर्वत्र तुल्य प्रवृत्तिमान्' (जो शत्रु एवं मित्रों में समान रूप से प्रवृत्त है वह श्रमण है।) स्थानाङ्गसूत्र में ही श्रमण को 'सु-मन' (सुन्दर मन) वाला कहा गया है—'सो समणो जइ सुमणो भावेण जइ ज होइ पावनणो'।

श्रमण के उपर्युक्त अर्थ श्रमण की व्यक्तिगत आध्यात्मिक उपलब्धि की ओर संकेत करते हैं। परन्तु परम्परा के रूप में श्रमण एक विशिष्ट जीवन पद्धति की ओर इंगित करता है जिसकी कुछेक विशेषतायें हैं। इस परम्परा में वेद और वैदिक कर्मकाण्ड की कोई मान्यता नहीं थी। वे समाज और सामाजिक संगठनों से दूर रहते थे तथा सामाजिक समस्याओं की चिन्ता प्रसंगवश ही करते थे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी समस्याओं के समाधान एवं नयी जीवन-पद्धति के अन्वेषण में सतत् प्रयत्नशील रहता था। श्रमणधर्म होने के कारण बौद्धधर्म के सम्बन्ध में भी श्रमण परम्परा की विशेषतायें प्रयोज्य हैं।

बौद्ध परम्परा में श्रमण के स्थान पर भिक्षु शब्द का प्रयोग हुआ है। पालि साहित्य में भिक्खु (भिक्षु) की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'भिक्खाचरियं अज्झुपगतोति भिक्खु' (भिक्षा से जीवन-यापन करने वाला भिक्षु है)। एक अन्य पहलू से भी इसकी व्याख्या की गई है—'संसारे भयं इक्खति' (संसार में भय देखता है)। सांसारिक जीवन में भय देखने वाला ही संसार से निकलने एवं तदनुरूप आचरण करने के लिए उद्धत होता है। ऐसे व्यक्तियों के लिए जीवन-यापन का सम्यक् साधन भिक्षा है।

बौद्धधर्म में भिक्षुजीवन :

बौद्धधर्म भिक्षुधर्म था। इसके विशिष्टानुयायी भिक्षु थे। बुद्ध ने सारे धर्मोपदेश एवं विनय के नियमों का विधान भिक्षुओं को लक्ष्य कर किया था। बौद्धधर्म में चरमलक्ष्य की प्राप्ति निर्वाण है। निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है—तृष्णा रहित (निःवाण)। निर्वाण वह चरमावस्था है जहाँ पहुँचकर भिक्षु का चित्त आस्रवों से विमुक्त हो जाता है और उसे विमुक्तिज्ञान प्राप्त हो जाता है। उनका जीवन-चक्र समाप्त हो जाता है, ब्रह्मचर्य पूर्ण हो जाता है, करने योग्य सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न हो जाते हैं, पुनर्जन्म नहीं होता है—'खीणाजाति, वुसितं ब्रह्मचरियं, कतं करणीयं, नापरं इत्थत्तायाति'।

निर्वाण की प्राप्ति मध्यमाप्रतिपदा से होती है। आत्मपीड़न और कामलिप्सा के दो अन्तों से विलग रहते हुए शील समाधि एवं प्रज्ञा के मार्ग पर चलना ही मध्यमाप्रतिपदा है। शील से आचरण शुद्ध होता है तथा चित्त परिशुद्ध और शांत होता है। समाधि द्वारा परिशुद्ध एवं शान्त चित्त में एकाग्रता आती है जिससे अनित्य दुःख एवं अनात्म के ज्ञान का साक्षात्कार होता है। एकाग्रचित्त द्वारा अनित्य, दुःख एवं अनात्म के ज्ञान का साक्षात्कार ही प्रज्ञा है। शील समाधि एवं प्रज्ञा के चक्रवाताकारीय मार्ग की परिणति निर्वाण में होती है।

मध्यमाप्रतिपदा पर चलने के लिए भिक्षु जीवन अपनाना अनिवार्य माना गया है। घर-परिवार छोड़, केश-मूँछ मुड़वा, चीवर धारण कर, बौद्धधर्म एवं संघ की शरण में प्रव्रज्या लेना ही भिक्षु-जीवन का प्रारम्भ है। भिक्षुओं के आचार को नियंत्रित करने के लिए विनय विहित नियमों का विस्तृत विधान है। भिक्षुओं की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश है कि 'पिण्डपात' ही भिक्षुओं का आहार होगा, 'रुक्खमूल' ही सयनासन होगा, 'पंसुकूल' से बना चीवर ही परिधान होगा और 'पूत्तिमुत्त' (गोमूत्र) ही अस्वस्थ हो जाने पर भैषज्य होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिक्षा प्राप्त करने की सम्यक् विधि 'सपदान चारिका' है। 'सपदान चारिका' करते हुए भिक्षुगण मध्याह्न के पूर्व पार्श्ववर्ती ग्रामों में जाते थे और बिना किसी भेदभाव के एक के बाद एक घर के सामने मौनभाव से कुछ क्षण खड़े होकर भिक्षा ग्रहण करते थे। खाने के लिए पर्याप्त भोजन एकत्र हो जाने पर लौट आते थे। भोजन का संग्रह परिहार्य था। भिक्षा के प्रकार के सम्बन्ध में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष या परोक्ष संकेत निषिद्ध था। बुद्ध और उनके अनुयायी निमंत्रित किए जाने पर गृहस्थों के घर भी भोजन के लिए जाते थे। चीवर का दान भी भिक्षुओं को मिलने लगा था। आवास के लिए विहारों का दान भी बुद्ध को दिया गया था।

भिक्षुजीवन स्वैच्छिक एवं व्यक्तिपरक था। समाज एवं भिक्षुसंघ के प्रति भी जिम्मेदारियाँ थीं पर भिक्षु को सजग रहना पड़ता था कि वे उसके गन्तव्य तक पहुँचने में बाधक न हों। बहुतों के हित के लिए, बहुतों के सुख के लिए (बहुजन हिताय बहुजन सुखाय) सदाचारिका करते रहने का आदेश था। एक साथ एक ही दिशा में चारिका करना वर्जित था।

बुद्ध के मृत्योपरांत धर्म एवं परम्परा में नया मोड़ :

बौद्धधर्म एवं दर्शन के विकास के क्रम में स्व-निर्वाण के लिए एकमुखी प्रयत्न को स्वार्थपरक समझा जाने लगा और पर-कल्याण की चिन्ता प्रमुख होती गई। इस प्रकार महायान का जन्म हुआ और स्व-निर्वाण के लिए समर्थ रहते हुए भी स्व-निर्वाण को स्थगित रखकर पर को दुःखमुक्त कराने का आदर्श जीवन का प्रमुख लक्ष्य बन गया। इस परिवर्तन का सीधा प्रभाव भिक्षुओं के आचार में उनकी आहारचर्या पर पड़ा और आमिषाहार का सर्वथा वर्जन कर दिया गया।

सम्राट् अशोक के काल तक भिक्षुसंघ अट्ठारह सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था। महायान के विकास से बौद्ध समाज वैचारिक दृष्टि से दो दलों में विभक्त हो गया। पूर्व के सभी सम्प्रदायों को हीनयानी की संज्ञा मिली। महायान में पर-कल्याण का लक्ष्य था पर इस लक्ष्य को कार्यरूप देने के लिए भिक्षु को स्वयं समर्थ बनना था और इस हेतु प्रणीत बोधिसत्वचर्या अत्यन्त दुरूह एवं समयापेक्ष थी। इस त्रुटि को दूर करने का प्रयत्न किया गया और मंत्र-तंत्र की साधना के द्वारा बोधि की प्राप्ति को सहज बनाया गया।

मंत्रयान के विकास के साथ ही बौद्धदर्शन में एक नया मोड़ आया। तृष्णा का निरोध, संसार से विरति एवं परिशुद्ध ब्रह्मचर्य के पालन के स्थान पर राग ही चरम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन बन गया। इस परिवर्तन से भिक्षुओं की जीवन-चर्या में पूर्व-वर्जित मद्य, मत्स्य, मांस, मैथुन आदि का विधान पुनः हो गया। ऐसा समझा जाता है कि मद्य आदि शब्दों का प्रयोग सांकेतिक था, परन्तु व्यवहार में निम्न स्तर पर इनका दुरुपयोग हुआ।

बुद्ध ने भिक्षुसंघ की स्थापना नित्यचारिका में लगे भिक्षुओं से की थी, पर शनैः-शनैः भिक्षुओं में स्थायी निवास की परंपरा चल पड़ी और विदेशों में बौद्धधर्म एवं परम्परा के प्रवेश के काल तक भिक्षु आरामवासी-विहारवासी बन चुके थे। बुद्ध के जीवन काल में ही बुद्ध और संघ को आरामों-विहारों का दान मिलने लगा था और भिक्षुओं में स्थायी निवास की परम्परा का प्रारम्भ हो चुका था। आरम्भ में आराम-विहार नित्यचारिका में रत भिक्षुओं के रात्रि विश्राम एवं वर्षावास की अवधि में त्रैमासिक निवास के उपयोग में आते थे पर कालान्तर में भिक्षुगण किसी आराम-विहार-विशेष से सम्बद्ध रहकर वहां के स्थायी निवासी होने लगे। राजाओं एवं धनिकों के उदारतापूर्वक आर्थिक संबल एवं संरक्षण पाकर आराम-विहार धनोधान्य से पूर्ण हो गये। सम्राट् अशोक के राज्यकाल में पाटलिपुत्र के अशोकाराम में सुख-सुविधायें इतनी बढ़ गयी थीं कि भिक्षुवेश में सुख-सुविधा के कामुकों की संख्या ही अधिक हो गयी थी।

विदेशों में बौद्धधर्म एवं परम्परा का प्रवेश-प्रचार :

सम्राट् अशोक ने बौद्धधर्म की लोकोपयोगिता को देखकर देश-विदेश में बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार का कार्यक्रम बनाया। उस समय से बौद्धधर्म एवं परम्परा एशियाई देशों में प्रविष्ट हुई और अबाधगति से संवर्धित होती गई। यह वर्तमान में भी अधिकांश देशों में अक्षुण्णतः जीवित है। इन देशों की बौद्ध-श्रमण परम्परा को मोटे तौर पर तीन भागों—थेरवादी, महायानी और लामाधर्म—में विभक्त कर देखना चाहेंगे।

थेरवादी परम्परा :

दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में थेरवादी परम्परा है। थेरवाद बौद्धधर्म के अट्ठारह सम्प्रदायों में एक मात्र जीवित सम्प्रदाय है। यह सम्प्रदाय रूढ़िवादी रहा है। सम्राट् अशोक के संरक्षण में इस सम्प्रदाय की एक संगीति पाटलिपुत्र में हुई जिसमें धर्म-विनय का पुनः संगायन हुआ। संगीति के उपरान्त धर्म-प्रचारक भेजे गये। वे धर्म-प्रचारक अवश्य ही थेरवादी धर्म-विनय एवं तत्कालीन परम्परा को इन देशों में ले गये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीलंका (तत्कालीन सिंहल) में भेजे गये धर्म-प्रचारकों में प्रमुख सम्राट् अशोक के पुत्र महेन्द्र थे। उनकी पुत्री संघमित्रा भी धर्म-प्रचारकों में एक थीं। उस समय श्रीलंका में देवानाम् प्रियतिस्स का राज्यकाल था। बौद्धधर्म के प्रवेश के पूर्व वहाँ कौन-सा धर्म था इसका ऐतिहासिक विवरण नहीं मिला है। बौद्धधर्म को राजा और प्रजा दोनों ने सहर्ष स्वीकार किया। लोग घर-परिवार छोड़कर भिक्षु भी बनने लगे। शनैः शनैः सम्पूर्ण देश बौद्ध हो गया। श्रीलंका में प्रवेश के पूर्व ही भिक्षु आरामवासी-विहारवासी बन चुके थे। वहाँ भी आराम-विहार बनने लगे और भिक्षु किसी आराम-विहार-विशेष से सम्बद्ध हो गये। इस प्रवृत्ति ने अभयगिरिवासियों और महाविहार-वासियों के बीच प्रतिस्पर्धा को जन्म दिया जो आगे चलकर संघ में विभाजन का कारण बना। फिर भी, धर्म विनय एवं परम्परा अक्षुण्ण रही। ईसा पूर्व पहली शताब्दी में सर्वप्रथम सम्पूर्ण बुद्धवचन को लिपिबद्ध किया गया जो पालितिपिटक के रूप में आज हमें उपलब्ध है। यह तिपिटक ही श्रीलंका के बौद्ध धर्म एवं परम्परा का आधार है। अतः वहाँ का बौद्ध धर्म एवं उसकी परम्परा भारतीय बौद्ध धर्म एवं परम्परा की अटूट श्रृंखला है जिसे सम्राट् अशोक के धर्म-प्रचारक वहाँ ले गए थे।

दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में भी श्रीलंका ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है और उसका बौद्धधर्म एवं उसकी परम्परा सर्वमान्य मापदण्ड रहा है। बर्मा भौगोलिक दृष्टि से श्रीलंका की अपेक्षा भारत का पार्श्ववर्ती है और स्थलमार्ग से सम्बद्ध है। ईसा पूर्व में ही बौद्धधर्म दुर्गम पर्वतीय मार्ग को पारकर वहाँ पहुंच गया था। परम्परानुसार सम्राट् अशोक के धर्म-प्रचारक, सोन और उत्तर, सुवर्णभूमि (बर्मा) में धर्म-प्रचार के लिए गये थे। प्रारम्भ में, थेरवाद के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों का भी प्रवेश वहां हुआ, परन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त में वहाँ सिंहल परम्परानुकूल भिक्षुसंघ की स्थापना हुई जो कालान्तर में सम्पूर्ण बर्मा में मान्य हुई। बर्मा ने भी श्रीलंका की तरह थेरवाद धर्म एवं परम्परा के संयोजन में अविस्मरणीय योगदान किया है।

थाईलैन्ड, लाओस और कम्पुचिया सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से क्षेत्रीय इकाई के रूप में थे। कम्पुचिया पांचवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म के प्रभाव में आया। उस समय तक वहां हिन्दू धर्म भी लोकप्रिय बना हुआ था। कम्पुचिया के पूर्व ही थाईलैन्ड (तत्कालीन स्याम) में बौद्धधर्म का प्रवेश हो चुका था। चूंकि सम्पूर्ण क्षेत्र कम्पुचिया के राजनैतिक प्रभुत्व में था, इस कारण कम्पुचिया की धार्मिक स्थिति का थाईलैन्ड और लाओस पर प्रभाव पड़ता रहा और बौद्धधर्म एकच्छत्र होकर नहीं फैल सका। तेरहवीं शताब्दी में थाईलैन्ड ने कम्पुचिया के राजनैतिक प्रभुत्व को समाप्त किया और लाओस पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इससे इस क्षेत्र में थेरवाद को राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ और तबसे इस क्षेत्र में थेरवाद का प्रचार-प्रसार हो गया। थाईलैन्ड का प्रभुत्व बढ़ते ही यहाँ की धार्मिक स्थिति का प्रभाव अब कम्पुचिया पर पड़ने लगा। धीरे-धीरे हिन्दू धर्म का प्रभाव कम होता गया और थेरवाद उभरकर एकच्छत्र होकर सम्पूर्ण क्षेत्र में फैल गया। वर्तमान में भी इस क्षेत्र के तीनों देशों में थेरवादी बौद्धधर्म ही एकमात्र लोकधर्म है। थाईलैन्ड में इसे राजधर्म का श्रेय प्राप्त है।

वियतनाम (प्राचीन चम्पा) सामाजिक-राजनैतिक दृष्टि से चीन के अधिक सन्निकट रहा है। तीसरी शताब्दी तक वहाँ बौद्धधर्म का प्रवेश हो चुका था। चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार वियतनाम में अधिकतर आर्य सम्मितीय सम्प्रदाय के अनुयायी थे। महायान का भी प्रचार हुआ। वर्तमान में भी वहाँ हीनयान और महायान दोनों परम्परायें विद्यमान हैं पर वहाँ की हीनयानी परम्परा श्रीलंका आदि की परम्परा से भिन्न है। वहाँ के हीनयानी पालितिपिटक के समानान्तर चीनी में अनुवादित अन्य सम्प्रदाय के धर्म विनय का अनुसरण करते हैं।

इन्डोनेशिया और मलेशिया में इस्लाम के पूर्व हिन्दू और बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार हुआ था। प्राचीन में सुवर्ण द्वीप के नाम से अभिहित यह क्षेत्र सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था। भारत से नालन्दा महाविहार के आचार्य धर्मपाल के वहाँ जाने का विवरण मिलता है। विक्रमशिला के प्राचार्य अतीश दीपङ्कर भी सुवर्ण द्वीप के संघाचार्य के पास किसी समय धर्म की शिक्षा लेने के लिए वहाँ गये थे। कालान्तर में यह सम्पूर्ण क्षेत्र इस्लाम हो गया पर हिन्दू और बौद्ध संस्कृति के चिह्न अभी भी यहाँ विद्यमान हैं।

श्रीलंका से लेकर कम्पुचिया तक थेरवाद एवं उसकी परम्परा पूर्ण ओजसः जीवित है। यद्यपि इन देशों की श्रमण परम्परा में भौगोलिक एवं अन्य कारणों से बिलगाव है, पर थेरवादी होने के कारण श्रमण परम्परा के स्वरूप में एकरूपता है। श्रमण जीवन का चरम लक्ष्य, भिक्षु बनने की प्रक्रिया, भिक्षुओं की जीवनचर्या आदि वैसी ही है जैसी पालितिपिटक में वर्णित है। इस रूप में इन देशों की परम्परायें हमें विदेश गमन के पूर्व की भारतीय थेरवादी परम्परा की झांकी उपस्थित करती हैं। यहाँ काल और स्थान के कारण कुछ सुधार एवं परिवर्तन भी स्पष्ट रूप से किए गए हैं। इन देशों में बौद्धधर्म एवं परम्परा के प्रवेश के पूर्व ही भिक्षु आरामवासी-विहारवासी बन चुके थे। इन देशों में भी धर्म के प्रवेश के साथ ही आराम-विहार बनने लगे थे और भिक्षु किसी आराम-विहार-विशेष से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बद्ध रहने लगे थे। आज भी भिक्षुओं का अपना-अपना विहार है। नित्य चारिका करते रहने का विधान नियम मात्र ही रह गया है। कभी-कभी भिक्षु सपदानचारिका करते हैं, निमंत्रित किये जाने पर गृहस्थों के घर भी भोजन के लिए जाते हैं, पर साधारणतः आरामों-विहारों में ही वहाँ के भिक्षुओं का भोजन एक साथ बनता है। भोजन के प्रकार के प्रति कोई विभेद नहीं किया जाता है। मध्याह्न तक दिन में एकबार ही भोजन करने का नियम है। गृहस्थों द्वारा दिया गया दान ही भिक्षुओं का आर्थिक स्रोत है। किसी प्रकार की नौकरी भिक्षु नहीं कर सकते। आज के बदलते परिवेश में भिक्षुओं का रहन-सहन भी बदलता जा रहा है और दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नाना प्रकार की चीजों का संचय एवं उन्हें प्राप्त करने के लिए अर्थ रखने की प्रथा भी सामान्य जीवन पद्धति में आ गई है।

भारत में बौद्धधर्म के उदय के पूर्व ही गृहस्थ जीवन धार्मिक रूप से सुव्यवस्थित था। बुद्ध को उनके लिए नई जीवन पद्धति के अन्वेषण की आवश्यकता नहीं पड़ी। बौद्ध धर्म एवं संघ में आस्था रखने वाले गृहस्थों के लिए बुद्ध ने मात्र पञ्चशील (हिंसा, स्तेय, कामवासना में व्यभिचार, असत्य एवं मद्यपान से विरति) तथा समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों के निर्वाह आदि के उपदेश दिए थे। ये सब भी अल्परूप थे और प्रसंगवश ही दिए गए थे। भिक्षुगण गृहस्थों के लिए किसी प्रकार के धार्मिक कृत्य का सम्पादन नहीं करते थे। गृहस्थों द्वारा आमंत्रित किए जाने पर भोजनोपरान्त केवल धर्मोपदेश करते थे। गृहस्थ स्वयं भी धार्मिक कृत्य के रूप में त्रिशरण गमन और पंचशील के पालन के संकल्प को दुहराते थे।

बौद्ध धर्म के प्रवेश-प्रचार के पूर्व इन देशों में कोई अपना प्रवर्तित धर्म नहीं था। अतः बौद्धधर्म वहाँ लोकधर्म बन गया। फलतः गृहस्थों के लिए बौद्धधर्म के आदर्शों के अनुरूप एक जीवन पद्धति को उभारना अनिवार्य था। गृहस्थों के सभी अनुष्ठानों एवं धार्मिक कृत्यों के अवसर पर भिक्षु उनके घर जाते हैं और उनका सम्पादन कराते हैं। उनके कल्याण एवं शान्ति के लिए मंगल पाठ करते हैं। भिक्षु कुछ हद तक हिन्दू समाज के ब्राह्मणों के समान गृहस्थों के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाते हैं।

इन देशों में विशेषकर थाईलैण्ड, लाओस और कम्पुचिया में बौद्धधर्म के लोकधर्म बनने के साथ-साथ जीवन में भिक्षु बनना एक आवश्यक धार्मिक कृत्य हो गया है। प्रत्येक व्यक्ति जीवन में एकबार भी कुछ समय के लिए ही सही, भिक्षु अवश्य बनता है। भिक्षु बनकर जीवन पर्यन्त भिक्षु बने रहना श्रेयस्कर है, भिक्षु समाज में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं एवं उन्हें समाज के सभी वर्ग के लोगों का सम्मान मिलता है। फिर भी भिक्षु जीवन से गृहस्थ जीवन में लौट आना हेय नहीं समझा जाता। अधिकतर लोग निश्चित अवधि के लिए भिक्षु बनते हैं और पुनः गृहस्थ जीवन में लौट आते हैं।

महायानी परम्परा :

सम्राट् अशोक के पौत्र विजय संभव ने खोतान में बौद्धधर्म का प्रचार किया। शक, कुशान एवं भारतीय व्यापारियों ने धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस्लाम के प्रसार के पूर्व सम्पूर्ण पूर्वी तुर्कीस्तान बौद्ध था। पूर्वी तुर्कीस्तान से बौद्धधर्म चीन पहुंचा। बाद में भारत और चीन के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाने पर भारतीय भिक्षु चीन जाने लगे। प्रथम शताब्दी के लगभग चीन में बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ और शीघ्र ही उसे राजकीय मान्यता मिल गई। चौथी शताब्दी तक बौद्धधर्म की गतिविधियाँ काफी तेज़ हो गई थीं। भारत से सभी सम्प्रदायों के ग्रंथ बहुतायत में वहाँ पहुंच गए थे और भारतीय एवं चीनी भिक्षुओं के सम्मिलित प्रयास से उन ग्रन्थों का अनुवाद होना भी प्रारम्भ हो चुका था। चीनी भिक्षु भी अपनी जिज्ञासा की शान्ति के लिए नये-नये ग्रन्थों की खोज कर रहे थे। उन्हीं जिज्ञासु भिक्षुओं में एक फाहियान थे जो पांचवीं शताब्दी में भारत आये। फाहियान के बाद आने वाले चीनी यात्रियों में ह्वेनसांग और इत्सिंग का नाम अग्रणी है। बौद्धिक स्तर पर सभी सम्प्रदायों के ग्रन्थों का अध्ययन चीन में हुआ, पर लोक धर्म के रूप में महायान ही यहां स्वीकृत हुआ। साम्यवादी होने के पूर्व तक चीन महायानी देशों में अग्रणी था।

बौद्धधर्म के प्रवेश के समय चीन भारत के समान ही सभ्यता एवं संस्कृति में उन्नत था। कन्फ्यूसियस बुद्ध के समकालीन थे। उनके सामाजिक दर्शन एवं नैतिक शिक्षा ने चीन के सामाजिक संगठन को सुदृढ़ आधार प्रदान कर दिया था। लाओत्सु के तत्त्व चिंतन में उन्हें एक गूढ़ दर्शन भी मिल चुका था जिसमें प्रकृति के उन नियमों का निरूपण किया गया था जिनसे सम्पूर्ण विश्व नियंत्रित होता है। परन्तु कन्फ्यूसियस और लाओत्सु के चिन्तन में धार्मिक तत्त्व नहीं थे जिनके अभाव में मनुष्य सम्पूर्ण भौतिक एवं बौद्धिक समृद्धि के बाद भी पूर्णता का अनुभव नहीं कर पाता है। कार्य-कारण के सिद्धांत पर आधारित पुनर्जन्म का सिद्धान्त, निर्वाण का चरम लक्ष्य, पर-कल्याण का आदर्श आदि ने एक ओर बुद्धिजीवियों को प्रभावित किया, वहीं दूसरी ओर बुद्ध के रूप में श्रद्धा एवं आस्था का केन्द्र बिन्दु एवं दुःख दौर्मनस्य में उनका शरण ने साधारणजन में सुरक्षा का भाव उत्पन्न किया। चीन में पूर्व में भी ईश्वर की कोई कल्पना नहीं थी। बौद्ध धर्म भी अनीश्वरवादी था। स्वपरिश्रम से चरम लक्ष्य की प्राप्ति जैसा जीवन दर्शन उनके अनुरूप था। महायान के पर-कल्याण का आदर्श और कन्फ्यूसियस का अपत्यवत् स्नेह एवं सामाजिक सम्बन्धों की अतिशय चिन्ता के मध्य कोई आन्तरिक विरोध नहीं था। बौद्धधर्म सभी स्तरों पर स्वीकृत हुआ और कन्फ्यूसियस और लाओत्सु के धर्म के साथ मिलकर जनजीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने में पूरक बन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया : साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक संगठन एवं सम्बन्धों में कन्फ्यूसियस के आदर्श को मानता, ज्योतिष सम्बन्धी बातों में लाओत्सु के ताओवाद का अनुसरण करता और आध्यात्मिक आकांक्षाओं की सन्तुष्टि बौद्ध धर्म की शिक्षा-दीक्षा में पाता था।

बाह्य जीवन में थेरवादी और महायानी भिक्षुओं के बीच विशेष अन्तर नहीं है। महायानी एवं हीनयानी भिक्षुओं की चर्चा में जो अन्तर आ पड़ा, वह महायान में बोधिसत्त्व चर्या के विकास के कारण हुआ। बोधिसत्त्व के लिए आमिषाहार सर्वथा निषिद्ध है। भौगोलिक आवश्यकताओं के रहते भी चीन में भिक्षु निरामिष भोजन ही करते थे। कुछ तो दूध का भी वर्जन करते थे। भारत में ही विभिन्न सम्प्रदायों के बीच चीवर में अन्तर आ पड़ा था। थेरवादी भिक्षुओं के चीवर से यहां के भिक्षुओं का परिधान भी बदल गया है।

समाज के प्रति भिक्षुओं की जिम्मेदारियाँ भी हीनयानी भिक्षुओं की अपेक्षा सिद्धान्ततः अधिक थीं क्योंकि ये पर-कल्याण के आदर्श में विश्वास करने वाले थे। भिक्षु साधारणजन की धार्मिक-आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरा करते थे।

चीन से बौद्ध धर्म कोरिया में गया। कोरिया के सामाजिक गठन का आधार भी कन्फ्यूसियस का सामाजिक दर्शन था। कोरिया में बौद्ध धर्म का प्रचार चीनी बौद्ध धर्म एवं परम्परा का ही विस्तार मात्र था। कालान्तर में स्थानीय विशेषतायें भी उभर आयीं और कोरियाई बौद्धधर्म का एक अपना स्वरूप भी बन गया। कोरिया के ही सम्पर्क से बौद्धधर्म जापान गया, परन्तु शीघ्र ही जापान की दृष्टि चीन की ओर पड़ी और जापान ने चीनी बौद्ध धर्म एवं परम्परा को हूबहू अपना लिया। प्रारम्भ में बौद्ध धर्म उच्च वर्ग के लोगों के मध्य ही फैल सका और उस अवस्था में वह चीनी बौद्ध धर्म एवं परम्परा का विस्तार मात्र था। तेरहवीं शताब्दी में इसे राष्ट्रीय रूप देने एवं साधारण जन में लोकप्रिय बनाने के लिए प्रयास किया जाने लगा। इसमें पूर्ण सफलता मिली और बौद्धधर्म शीघ्र ही यहाँ का लोक धर्म बन गया। इस काल में श्रमण परम्परा में एक ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मोड़ आया। सिनरान ने विवाहित भिक्षु जीवन की प्रथा का प्रारम्भ किया। वर्तमान में स्थिति यह है कि कुछेक सम्प्रदायों में ही भिक्षु बनने और आजीवन ब्रह्मचर्य के पालन की प्रथा शेष रह गई है। साधारणजन के लिए धार्मिक कृत्यों एवं अनुष्ठानों के सम्पादन करने वाले मंदिरों के अधिकारी वर्ग का उदय हुआ जो हिन्दू समाज के ब्राह्मण वर्ग के समकक्ष प्रतीत होते हैं। ये धार्मिक कार्यों के सम्पादन के समय एक विशेष प्रकार का परिधान पहनते हैं और शेष समय में गृहस्थ जैसा जीवन व्यतीत करते हैं।

इस शताब्दी में विशेषकर द्वितीय विश्व युद्ध के कुछ पूर्व से जापानी बौद्ध परम्परा में एक और महत्त्वपूर्ण मोड़ आया है— वह है गृहस्थ बौद्ध सम्प्रदायों का जन्म। इन सम्प्रदायों के अपने अनुयायी हैं, अपना मंदिर है, अपने धार्मिक एवं गैर-धार्मिक संस्थान हैं। धार्मिक कृत्यों का सम्पादन वे स्वयं करते हैं। आज भौतिक सुख-सुविधायें और बढ़ते भाग-दौड़ ने व्यक्ति के जीवन में मानसिक तनाव पैदा कर दिया है, मानवीय गुणों का ह्रास हो रहा है और व्यक्ति 'स्व' में केन्द्रित हो विलगाव की भावना का शिकार बनता जा रहा है। बुद्ध के बताये मार्ग पर चलकर अपने बदलते परिवेश के बीच व्यक्ति किस प्रकार मानसिक संतुलन बनाये रख सकता है और सबके साथ सुखी जीवन जी सकता है, यही इन सम्प्रदायों की मुख्य समस्यायें हैं।

जापान में भिक्षु जीवन वही था जो चीन और कोरिया में, पर बौद्ध धर्म के राष्ट्रीकरण एवं उसके सिद्धान्त को जीवन में उतारने के क्रम में भिक्षुओं का कार्यक्षेत्र भी विस्तृत हो गया। वे धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन में सिमटे रहने की अपेक्षा सम्पूर्ण सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में पूर्ण योगदान करने लगे। परिणामस्वरूप चित्रकला, उद्यान, फूल सज्जा, टी सिरोमनी आदि का विकास हुआ। आज ये चीजें जापान की अपनी विशेषतायें बनी हैं और जापान के लोगों का सम्पूर्ण जीवन सौन्दर्यपरक हो गया है। इन सबके विकास का श्रेय बौद्ध भिक्षुओं को ही है।

तिब्बत का लामा-धर्म :

तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रवेश सातवीं शताब्दी में चीन एवं नेपाल के सम्पर्क में आने पर हुआ, परन्तु शीघ्र ही तिब्बत भारत की ओर मुड़ा और वहां भारतीय भिक्षुओं के सहयोग से धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ। उस समय भारत में बौद्धधर्म एवं दर्शन के विकास का अन्तिम चरण, मंत्र-तंत्र का युग था। बौद्धधर्म के प्रवेश के पूर्व तिब्बत की सभ्यता एवं संस्कृति विकसित नहीं थी। धर्म के नाम पर लोगों के बीच फैला अन्धविश्वास एवं प्राकृतिक शक्तियों की उपासना ही लोकधर्म था जिसे बौद्धधर्म के सहयोग से बोन धर्म के रूप में विकसित किया गया। तिब्बत की भौगोलिक स्थिति, उसका बौद्धिक स्तर एवं जन-विश्वास की पृष्ठभूमि में तांत्रिक बौद्ध धर्म लोगों के अधिक अनुकूल सिद्ध हुआ और सम्पूर्ण तिब्बत में इसी का प्रचार-प्रसार हुआ। परन्तु तांत्रिक बौद्धधर्म का धार्मिक स्वरूप वहां के लोगों के विश्वास, रीति-रिवाज आदि के साथ मिलकर एक नये रूप में उभर आया जिसे लामाधर्म के नाम से अभिहित किया गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लामा का अर्थ है—गुरु। तिब्बत में तांत्रिक बौद्धधर्म के प्रचार का श्रेय पद्मसंभव को है। सर्वप्रथम लामा शब्द से उन्हें ही सम्बोधित किया गया। परन्तु, कालान्तर में सभी बौद्ध भिक्षुओं के लिए लामा शब्द का व्यवहार होने लगा और इस अर्थ में यह शब्द भिक्षु का पर्याय हो गया। वर्तमान में स्थिति यह है कि साधारणतः हम जिस किसी-तिब्बती को भी लामा कह देते हैं।

लामाधर्म की एक खास विशेषता है उसका अवतारवाद। बौद्धधर्म में पुनर्जन्म की बात है पर अवतार की बात मात्र लामाधर्म में ही है। अनेकों अवतारी लामाओं की परम्परायें तिब्बत में हैं। ये अवतारी लामा मृत्यूपरान्त पुनः जन्म लेते हैं और उनके श्रद्धालु अनुयायी उन्हें खोज निकालते हैं। अवतारी लामाओं में सर्वोपरि दलाई लामा और पन्चेन लामा हैं। दलाई लामा गेलुपा सम्प्रदाय के प्रमुख एवं तिब्बत के राज्याधिपति होते हैं और पन्चेन लामा को सिद्धान्ततः दलाई लामा का धर्मगुरु माना जाता है।

लामा लोगों की चरिया में अन्य भिक्षुओं की अपेक्षा एक विशेषता यह है कि वे पूर्णरूपेण अपने को आध्यात्मिक चिंतन में निमग्न रखते हैं। आध्यात्मिक साधना ही उनका सम्पूर्ण जीवन है। धार्मिक ग्रंथों का पाठ इस साधना का प्रमुख अंग है।

सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में तिब्बत के लामाधर्म का प्रचार मंगोलिया में हुआ। गेलुपा सम्प्रदाय के द्वितीय प्रमुख अवतारी लामा सोनम ग्यत्से ने मंगोलिया के एक प्रमुख मंगोल सेनानायक आलताई खाँ को लामाधर्म में दीक्षित किया और मंगोलिया में लामा धर्म का प्रचार किया। सोनम ग्यत्से के धर्म ज्ञान से प्रभावित होकर आलताई खाँ ने उन्हें 'दलाई' की उपाधि से सम्मानित किया। उस समय से उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती अवतारी दलाई लामा कहलाते हैं। दलाई मंगोल शब्द है और इसका अर्थ है—ज्ञान का सागर। परम्परा में मंगोलिया का बौद्धधर्म तिब्बती लामाधर्म के समरूप ही है। मंगोलिया की बौद्ध श्रमण परम्परा लामा परम्परा का विस्तार है।

भारत बौद्ध-श्रमण परम्परा का अन्त्योदय :

बौद्ध श्रमण परम्परा अपनी जन्मभूमि में ही मर गई। ऐसी मान्यता है कि नवीं शताब्दी में ही शंकराचार्य ने इसकी जड़ खोद डाली थी और बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में तुर्की हमलावरों ने इसके प्रतिष्ठानों को लूट-खसोट कर इसे दफना दिया। बाह्य कारण जो भी रहे हों, बौद्धधर्म स्वयं अपनी परम्परा को मृत्यून्मुखी बनाने के दोष से मुक्त नहीं है। कट्टरवादिता के कारण जैन श्रमण परम्परा हिन्दू धर्म एवं परम्परा के समानान्तर अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ रही। बौद्धधर्म में कट्टरवादिता नहीं थी। सह-अस्तित्व एवं सामंजस्य का पक्षधर था। विचारों में सतत् विकासोन्मुखी था और उनमें असीम ग्राह्यता एवं लोच थीं। इन्हीं गुणों के कारण बौद्धधर्म एशियाई देशों में अंगीकृत हुआ और आज भी जीवित है। परन्तु ये ही गुण भारत में बौद्धधर्म एवं परम्परा के ह्रास के कारण बने। रबड़ की तरह इसके धर्म-दर्शन के अतिशय विस्तार से इसका अपना रंग फीका पड़ता चला गया और हिन्दू धर्म-दर्शन से इसके विलगाव की दूरी प्रायः समाप्त होती गई। अपने विकास के वृत्तीय क्रम से यह वहीं पहुँच गया जहां से हटकर इसने एक विशिष्ट स्थान ग्रहण किया था और एक विशिष्ट जीवन-दर्शन के रूप में उभर कर अपनी उपयोगिता एवं उपादेयता सिद्ध की थी। शील समाधि एवं प्रज्ञा की भावना ही प्रारम्भ में आध्यात्मिक चरमोत्कर्ष पर पहुंचने का मार्ग था। महायान के विकास तक पहुंचते-पहुँचते यह धर्म स्वयं कर्मकाण्डों के चक्कर में आ गिरा और तंत्रयान के अन्तिम चरण में आकर समाज के निम्न उपेक्षित वर्ग की चीज़ बन कर रह गया। धीरे-धीरे सम्पूर्ण समाज के लिए इसकी उपयोगिता जाती रही और इसकी जीवनधारा सूखती चली गई।

इस शताब्दी में बौद्ध धर्म का पुनर्जागरण हुआ है। पश्चिमी विद्वानों के सम्पर्क से भारतीय विद्वानों का ध्यान भी बौद्धधर्म एवं परम्परा की ओर गया और इसके अध्ययन-अध्यापन का प्रारम्भ हुआ। इसके मानने वालों का भी उदय हुआ। डा० अम्बेडकर के प्रभाव से बड़ी संख्या में लोग इस धर्म में प्रवर्तित हुए। ये नव-बौद्धधर्मावलम्बी पश्चिम में ही हैं। पूर्व में, विशेषकर असम, बंगाल और बंगलादेश के कुछ भागों में भी बौद्ध समुदाय है। ये अटुट परम्परा के अंग हैं। बौद्धधर्म प्रायः विनष्ट हो गया था, पर पूर्व के कुछ बीहड़ प्रदेशों में जीवित रहा। समय-समय पर बर्मा और थाईलैन्ड से बौद्ध धर्मावलम्बी भी आकर परम्परा को जीवित रखने में सहायक बने। अब पुनरुत्थान की हवा में आकर नव-जीवन पा लिया है।

एशियाई श्रमण परम्परा के स्वरूप एवं इतिहास पर हमने एक विहङ्गमदृष्टि डाली। यह विडंबना ही है कि समाज से दूर रहने वाले श्रमणों ने भारत एवं अन्य देशों में एक सुसंस्कृत समाज के निर्माण में अमूल्य योगदान दिया है। विशेषकर, उन देशों में जहां बौद्ध धर्म एवं परम्परा के प्रवेश के पूर्व विकसित सभ्यता एवं संस्कृति नहीं थी, वहां की सभ्यता, संस्कृति, कला एवं साहित्य का विकास बौद्ध धर्म एवं परम्परा के सम्पर्क में आकर ही हुआ। दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व के देशों में बौद्धधर्म ग्रन्थों की भाषा पालि ही है जो बुद्धवचन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की मूल भाषा के सन्निकट की प्राचीन भारतीय भाषा है। इन देशों की भाषाओं में पालि के शब्द बहुतायत में मिलते हैं। तिब्बती साहित्य तो विशुद्ध रूप से बौद्ध साहित्य है। समुन्नत चीनी भाषा और साहित्य भी बौद्ध धर्म एवं परम्परा से मिलकर और अधिक समुन्नत और समृद्ध हुए। गांधीजी के तीन बन्दर जो उन्हें चीन से प्राप्त हुए थे, उनकी कहानी भी बौद्धधर्मोद्भूत है। सम्पूर्ण जापान में पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन के रूप में मनाया जाने वाला लोक नृत्य एवं लोक गीतों से सराबोर उरावोन उत्सव का स्रोत उलम्बन सूत्र है जिसमें धर्म सेनापति महामौद्गल्यायन द्वारा अपनी मां की सद्गति के लिये किए गये प्रयत्न की कथा है। जापान का विश्वप्रसिद्ध 'नो' ड्रामा बौद्ध मन्दिरों में बौद्ध भिक्षुओं द्वारा विकसित हुआ है। तिब्बती मंदिरों में आकर्षक नृत्य और संगीत का सम्पादन होता है। चित्रकला में तिब्बती थंका विश्वप्रसिद्ध है और इसकी विषय-वस्तु बौद्ध शास्त्रों में वर्णित बुद्ध, बोधिसत्त्व एवं उनका लोक है। कम्पुचिया के आंकोर-वाट् और इन्डोनेशिया के बोरोबुदुर के मन्दिर स्थापत्य कला के अपूर्व नमूने हैं। बर्मा के पैगोडा, थाईलैन्ड के वाट्, तिब्बती गोम्फा में अनेकों अपनी भव्यता के और कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध हैं। जापानी मन्दिर काष्ठनिर्मित ही हैं, पर उनसे लगा उद्यान उनके सौम्य वातावरण को और सौम्य बना देता है। क्योतो के रियोआनजी का विश्वविश्रुत राक् गार्डेन, सीमित में असीमित को आभासित करने का मानव प्रयास अद्वितीय है। अपने देश में भी अजन्ता की चित्रकारी, सांची का भव्य स्तूप, नालन्दा महाविहार का विशाल भग्नावशेष एक अति सुसंस्कृत समाज के उत्कर्ष की मूल गाथाएँ हैं।

एशियाई बौद्ध श्रमण परम्परा की एशिया के बदलते राजनैतिक परिवेश में क्या स्थिति रहेगी, यह कुछ देशों में स्पष्ट नहीं है, विशेषकर, साम्यवादी देशों में। चीन के साम्यवादी होने के साथ श्रमण परम्परा वहाँ समाप्त कर दी गई है, ऐसा अनुमान किया जाता है। पर विश्व मंच पर बौद्धधर्म के अध्ययन और उसकी उपयोगिता की बात जहां होती है, चीन भी उसमें भागीदार बनने लगा है। चीन के रास्ते ही अन्य साम्यवादी देश भी जायेंगे, यह सोचना भी तर्क-संगत है। अन्य देशों में यह परम्परा पूर्ण ओजस: जीवित है और वर्तमान में भी इसकी उपयोगिता का अनुभव सभी स्तरों पर किया जा रहा है। बौद्धेतर देशों में भी इसकी लोकप्रियता बढ़ रही है। जैनधर्म एवं परम्परा जो स्वदेश के ही विशेष वर्ग में सिमट कर रह गई है, अपनी परिधि से निकलकर सम्पूर्ण मानव-समाज के लिए कार्य करे तो मानवीय गुणों के विकास एवं मानवीय समस्याओं के समाधान में सहयोग मिलेगा और एक सुन्दर समाज के निर्माण का आदर्श साकार होगा।

सब का दुःख ही मेरा दुख है

जो अस्तित्व है, वही जीवन है। जीवन एक निधि है जिसके मूल्य न शून्य है, न क्षणिक। यह महाचैतन्य की अभिव्यक्ति है। जब व्यक्ति जीवन को कर्म की ओर मोड़ता है, और उस कर्मण्यता में मानव की हित-चिंता का अमृत मिलता है, तभी वह संतुलित स्थिति प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में रन्तिदेव का यश ध्यान देने योग्य है। राजा रन्तिदेव को जो धन प्राप्त होता उसे वे स्वयं भूखे और निर्धन रहकर दूसरों को दे डालते थे। यों अड़तालीस दिन बीत गए और भूख-प्यास का दुःख सहते हुए कहीं से रसहार उन्हें मिला। उसी समय ब्राह्मण अतिथि आ गया। श्रद्धा से प्रेरित रन्तिदेव ने अपना कुछ भाग उसे दे दिया। उस अतिथि में विष्णु के दर्शन उन्होंने किए। ब्राह्मण खाकर चला गया। उसी समय एक शुद्र आया। रन्तिदेव ने उसमें भी भगवान का रूप देखा और एक भाग उसे दे दिया। उसके चले जाने पर कुत्तों से घिरा हुआ एक श्वपाक चांडाल आया और भूख की टेर लगाकर राजा से कुछ खाने को मांगा। राजा ने जो बचा था, वह भी आदर के साथ उसे देकर श्वापक और उसके श्वगण को प्रणाम किया। अब केवल एक व्यक्ति के लिए पर्याप्त भोजन बच रहा था। जैसे ही उन्होंने उसे पीना चाहा की एक पुल्कस ने आ कर आवाज लगाई, "मुझ अपवित्र को भी कुछ जल दो।" उसकी वह करुणा वाणी सुनकर रन्तिदेव का मन संतप्त हो गया और उन्होंने प्यास से मरणप्राय होते हुए भी वह पानी उसे देते हुए निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण किया :—

न कामयेऽहं गतिमिश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखा ।

मैं भगवान् से अपने लिए सद्गति नहीं चाहता, न आठ सिद्धियों से युक्त सम्पत्ति ही, न मोक्ष या निर्वाण की मुझे चाह है। मेरी तो यही इच्छा है कि सब देह-धारियों का दुःख सिमट कर मेरे ही अन्तःकरण में भर जाए, जिससे वे दुःख से छूट सकें। उस युग के लेखक ने इस भावना को अमृत वचन (अमृतं वचः) कहा है। सचमुच मानव के कंठ से निकलनेवाली इस प्रकार की वाणी मृत्यु-रहित ही है। पूर्व युग में यह परम भागवतों और बोधिसत्वों की वाणी थी और आज के युग में अपने-आप को मानव हित में विगलित करनेवाले महात्माओं की वाणी भी यह है।

□ डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल
(राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त अभिनन्दन ग्रंथ की भूमिका से साभार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org